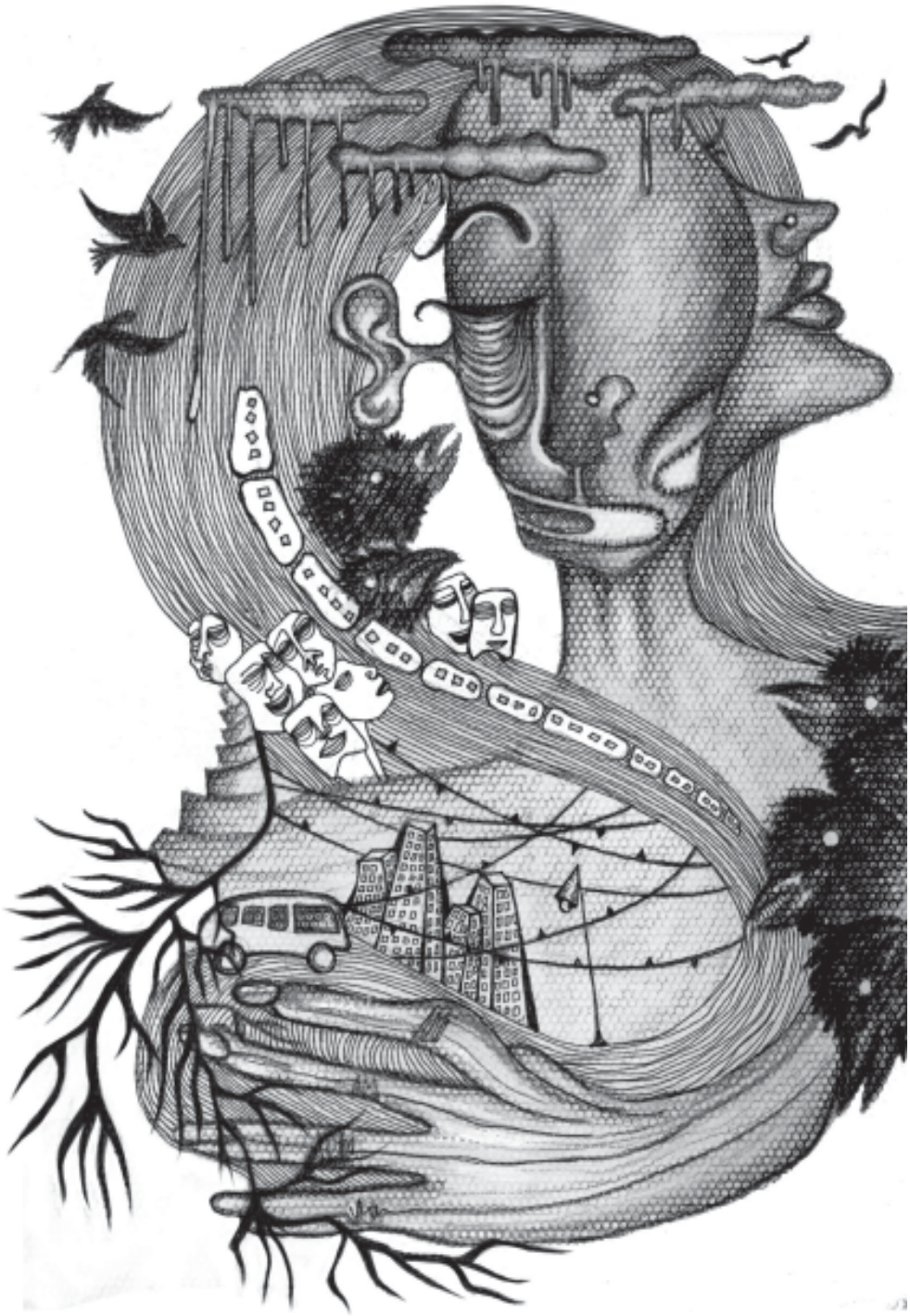

कहानी

डोमखाना के बगल में

विवेक मेहता

22 दिसम्बर, 1972

बनारस की एक कड़कड़ाती ठण्डी शाम और सड़क के किनारे खड़ी मैं घबराहट में पसीने से तर-बतर हो रही थी। कुछ देर पहले ही तो सिटी-बस में बैठी हुई थी और फिर यह कह कर उतार दी गई कि 'उसका आदमी छूट गया'। हाँ, यही कह रहे थे सभी उनके लिए कि आदमी छूट गया। उन्होंने कहा कि 'चढ़ जाओ' तो मैं बस में चढ़कर एक सीट पकड़कर बैठ गई। सोचा कि वो पीछे ही हैं। पहले तो कुछ समझ नहीं आया। पर जब कान के पास आकर कोई चिल्लाया कि 'तुम्हारा आदमी छूट गया' और वो मुझे दिखे नहीं तो मैं घबरा गई। अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में किसी तरह मैंने कहा, "रुखाओ-रुखाओ" तो लोगों ने बस रुकवाकर मुझे नीचे उतार दिया।

वो 12वाँ दिन ही तो था मेरा बनारस में। 10 दिसम्बर को पहुँची थी बनारस - लखीमपुर, असम से, 5 दिन का अपना पहला रेल सफर करके। असम के एक छोटे-से गाँव धेखियाखुआ में पैदा हुई, वहीं पली-बढ़ी थी मैं। पर उतनी भी गँवार नहीं थी जितना बनारस में सभी मुझे समझते थे। बी.ए. पास थी। असमिया पढ़-लिख सकती थी, और-तो-और इंग्लिश भी समझती थी। गाती थी, भूपेन हज़ारिका के गाने। सहेलियाँ कहतीं कि भुनु कितनी सुरीली है। पर इस मुई हिन्दी ने तो गूंगा ही बना दिया।

"कहाँ जाएँगी? अरे बहिनजी कहाँ जाइएगा?"

मेरा ध्यान गया। एक रिक्शावाला खाली रिक्शा लिए मुझसे

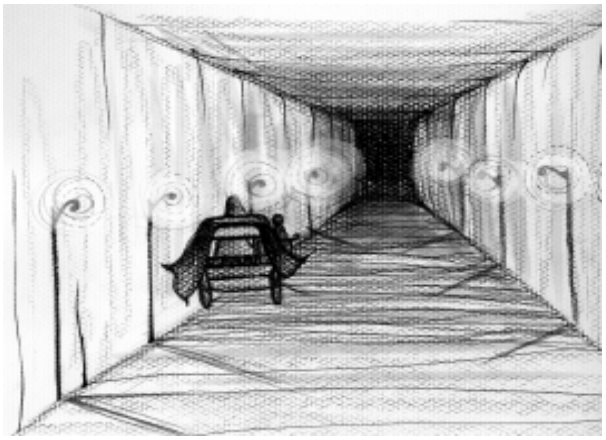

ही पूछ रहा था। कहाँ जाना है? क्या बोलूँ? क्या बताऊँ? मुझे तो जगह का नाम भी नहीं पता।

"अरे कहाँ जाएँगी? कुछ बोलिएगा?"

इस बार न जाने कैसे कण्ठ फूटा

और आवाज़ निकली, "डूमखाना का बोगल में।"

उन्हें कहते सुना था, पर मुझे तो मालूम ही नहीं थे इन शब्दों के मतलब जो मैंने कहे। पर रिक्शा वाला समझ गया। और चल दी मैं रिक्शे में बैठकर डोमखाना के बगल में।

लेडी कीन कॉलेज, शिलॉंग में पढ़ना चाहती थी मैं। सुना था मैंने कि बड़ा मॉडर्न कॉलेज था। लेकिन घर के बड़ों ने इजाज़त नहीं दी। वरना शादी होती मेरी किसी चाय-बागान के मैनेजर से। ठाठ से रहती, बड़ी गाड़ी में घूमती। इनके चक्कर में तो न पड़ती जो पता नहीं कहाँ छोड़ गए थे मुझे अकेले, इस अनजान शहर में।

वैसे मेरा बनारस आना ऐसे ही कई संजोगों का नतीजा था। ये पिछले 10 सालों से थे बनारस में, बैंक में क्लर्क। पर नौकरी तो बस एक बहाना थी। असली कारण था उनका संगीत-प्रेम। मन था तबला बजाना सीखें, और वो भी गुदई महाराज से। अखबार में जब बनारस में बैंक की नौकरी का इश्तेहार देखा तो अर्ज़ी लगाई। मेट्रिक पास थे, और संयोग देखिए कि मिल भी गई नौकरी। और एक तरह से मेरा भी आना तय हो गया इस शहर में।

कहने को बड़ा शहर, लाखों लोग पर मेरे लिए तो सब कुछ अनजाना। इन्हें भी तो मैं उतना ही जानती थी। एक भी चेहरा ऐसा नहीं सड़क पर जिसे मैं पहचानती हूँ। उस दिन मुझे समझ में आ रहा था कि क्या होता है भीड़ में अकेले होने का मतलब। याद आ रही थीं वो माँजी जो रोज़ सुबह इनके ऑफिस जाते समय इशारे से मुझे अपने पास बुलातीं। पर मैं बस हाथ हिलाकर वापिस घुस जाती घर में। बन्द कर लेती अपने आप को अन्दर ही, जब तक वो नहीं आ जाते।

सामने ही रहती थीं वो। उन दिनों ठण्ड के चलते बाहर आंगन में ही अंगीठी जलाए हाथ-पाँव सेकती रहती। कभी-कभी मन करता कि जाऊँ, पास बैठूँ उनके, पर झिझक में अन्दर ही रह जाती कि बात क्या करूँगी। सोच रही थी मैं कि आज वो ही दिख जाएँ कहीं रास्ते में। या मुनिया ही, जिसने पूरे मोहल्ले में फैलाया था कि गोस्वामीजी की मिसिज़ गूंगी हैं। मैं करती भी क्या, वो बर्तन मांजती और मुझे कोई बर्तन चाहिए होता तो मैं इशारे से ही मांगती कि ये दे दो या वो दे दो। उन बर्तनों के हिन्दी-बनारसी नाम मेरी ज़ुबान पर चढ़े नहीं थे।

पर इनकी हिन्दी तो बहुत अच्छी थी। देहाती भी बोल लेते थे। शायद लम्बे समय से बनारस में रहने का नतीजा था। शादी से पहले गुदई महाराज के साथ कई जगहों पर घूम भी आए थे। और फिर बैंक की नौकरी जिसमें अलग-अलग तरह के लोगों से बातचीत करनी पड़ती है। बांग्ला तो इतनी सुन्दर बोलते कि सभी इन्हें बंगाली ही समझते। वैसे भी उत्तर भारत के लोगों का भूगोल पूर्व में बंगाल तक ही सीमित है। पूर्व से आने वाले सभी बंगाली और थोड़े अलग दिखे तो चीनी।

"लो बहिन जी, आ गया डोमखाना। अब कहाँ?"

"ऊँहा।"

मैंने इशारे से गली की तरफ दिखाते हुए कहा। सिर्फ 11 दिन पुराना सही पर दूर से ही अपना घर देख कुछ शान्ति मिली मन को। उस किराये के मकान को देखकर लगा कि हाँ, मेरा भी कुछ ठौर-ठिकाना है।

"चार आना बहिन जी।"

मैं चुप।

"अरे बहिन जी चार आना! अँधेरा हो चला है, लाइए, हम भी जाएँ अपने घर।"

मैं सोच रही थी कि उसे तो इनाम मिलना चाहिए, मुझ अनजान को घर तक पहुँचाने के लिए, पर मेरे पास तो भाड़े भर के भी पैसे नहीं।

"का हुआ, पैसा नहीं है का? अरे तो पहले बताना था। इतना भारी-भरकम साड़ी और कोट पहनी हैं और

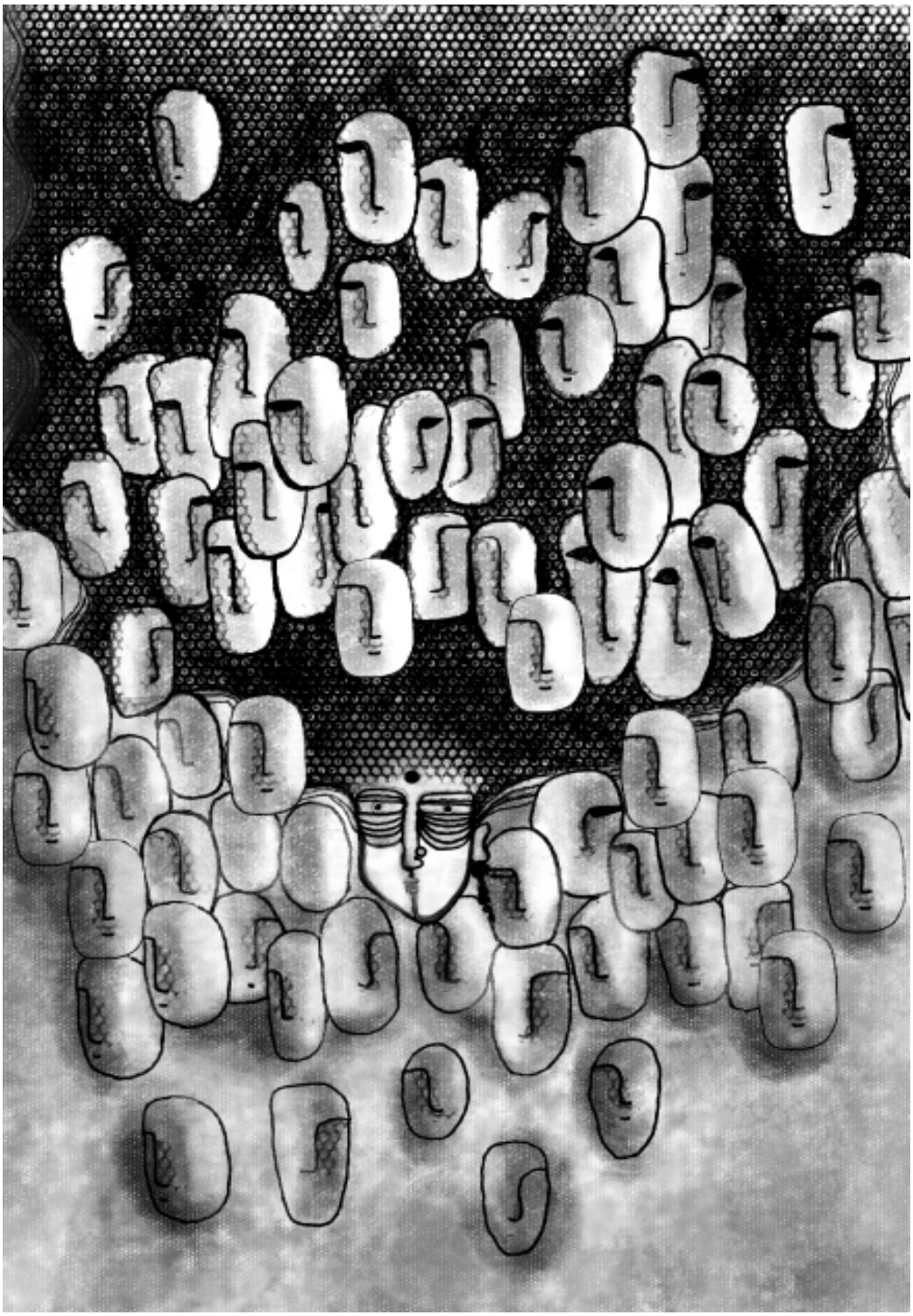

पास चार आने नहीं।"

मेरे तो बस आँसू झलकने को थे।

"का हुआ बेटी? अकेले आ रही हो? गोस्वामीजी कहाँ रह गए? और तुम परेशान काहे को हो?"

माँजी ने रिक्शावाले की बातें सुन ली थीं। अपनी धोती की गाँठ खोलकर पैसे दिए उसे और मुझे वहीं आँगन में ही अपने साथ बैठा लिया। बगल के पण्डित जी भी आ गए और फिर सवालों की झड़ी जिनके जवाब मैं चाहकर भी नहीं दे पा रही थी।

"कहाँ चले गए गोस्वामीजी? ऐसे तो भले मानुष लगते हैं। लगता है दहेज के चक्कर में गूंगी लड़की से शादी किए और अब छोड़ गए हैं अकेले।"

तभी ये आते हुए दिखे। अब सारी सवालिया नज़रें उन्हीं पर थीं। लेकिन वो सवाल और टिप्पणियाँ नहीं हुईं। आते-आते ही सारी घटना माँजी और पण्डितजी को बताई। और फिर से बन गए भले मानुष।

"थैंक गॉड! तुम मिल गईं। कैसे पहुँची यहाँ?"

"आ ही गई किसी तरह, डोमखाना के बगल में।"

आज इतना अनजाना नहीं है ये शहर। कितनी यादें जुड़ी हैं इस शहर से। और अब मेरी हिन्दी भी उतनी बुरी नहीं।

इन दिनों खुद से ही पूछती हूँ कभी उनका वो सवाल कि कैसे पहुँची यहाँ तक?

और जवाब मिलता है अन्तर्मन से कि 'आ ही गई किसी तरह, डोमखाना के बगल से यहाँ तक'।

विवेक मेहता: आई.आई.टी., कानपुर से मेकेनिकल इंजीनियरिंग में पीएच.डी. की है। इन दिनों स्वतंत्र रूप से लिखने व अनुवाद का काम करते हैं।

यह कहानी जाह्नवी गोस्वामी के साथ हुई घटना पर आधारित है। लेखक ने उनकी असमिया डायरी व उनके साथ हुई बातचीत के आधार पर उस घटना का हिन्दी रूपान्तरण किया है।

सभी चित्र: विदुषी यादव: आई.डी.सी., आई.आई.टी. बॉम्बे से एनीमेशन में स्नातकोत्तर। स्वतंत्र रूप से एनीमेशन फिल्में बनाती हैं और चित्रकारी करती हैं।